eISSN 2581-8996
ONLINE
INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED JOURNAL
Volume 09, Issue 01, January 2026

संस्कृति चिंतन और हिंदी साहित्य

डॉ. (श्रीमती) सरोज गोस्वामी[1]
[1]प्रधानाचार्या, पीएम श्री राजकीय बालिका इंटरमीडिएट कॉलेज, चरखारी, महोबा (उ0प्र0)

Received: 20 Jan 2026, Accepted: 25 Jan 2026, Published with Peer Reviewed on line: 31 Jan 2026

Abstract

संस्कृति किसी भी समाज की पहचान, जीवन–दृष्टि, परंपराओं, मूल्यों, आस्थाओं तथा सामाजिक व्यवहार का समग्र रूप है। हिंदी साहित्य भारतीय संस्कृति का सशक्त संवाहक एवं संवर्धक रहा है। आदिकाल से लेकर समकालीन साहित्य तक हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक चेतना, लोकजीवन, नैतिक मूल्यों, सामाजिक समरसता, धार्मिक सहिष्णुता, राष्ट्रीय भावना तथा मानवीय संवेदनाओं का व्यापक चित्रण मिलता है। प्रस्तुत शोध का उद्देश्य हिंदी साहित्य में निहित संस्कृति–चिंतन के विविध आयामों का विश्लेषण करना है। इस अध्ययन में यह स्पष्ट किया गया है कि हिंदी साहित्य केवल समाज का दर्पण नहीं है, बल्कि सांस्कृतिक संरक्षण, सामाजिक परिवर्तन तथा राष्ट्रीय एकता का प्रभावी माध्यम भी है। भक्ति साहित्य ने आध्यात्मिक एवं मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित किया, जबकि आधुनिक हिंदी साहित्य ने सामाजिक सुधार, लोकतांत्रिक चेतना, स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, पर्यावरणीय चेतना तथा वैश्वीकरण के संदर्भ में संस्कृति के बदलते स्वरूप को अभिव्यक्त किया। शोध में वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति का उपयोग करते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि हिंदी साहित्य भारतीय संस्कृति की निरंतरता, विविधता एवं जीवंतता का प्रामाणिक दस्तावेज है। वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में सांस्कृतिक अस्मिता, भारतीय ज्ञान परंपरा तथा मानवीय मूल्यों के संरक्षण के लिए हिंदी साहित्य का अध्ययन अत्यंत प्रासंगिक एवं आवश्यक है।

मुख्य शब्द– हिंदी साहित्य, संस्कृति चिंतन, भारतीय संस्कृति, सांस्कृतिक चेतना, लोक संस्कृति, भारतीय ज्ञान परंपरा, सामाजिक मूल्य, सांस्कृतिक अस्मिता

Introduction

संस्कृति वस्तुतः एक बहुवचनात्मक प्रत्यय है। प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति होती हैं और वह उस देश के बहुलतावादी स्वरूप को उजागर करती है ।संस्कृति में मूल्य, आदर्श और संस्कार समाहित होते हैं । इसमें कोई दो राय नहीं कि संस्कृति का बहुत गहरा संबंध संस्कार से है । संस्कार वे हैं जो हमारे अंदर गुणों को उत्पन्न करते हैं। संस्कारवान व्यक्ति अनेक गुणों से युक्त होता है । इसी प्रकार कोई भी सुसंस्कृत समाज विशिष्ट गुणों से युक्त होता है। यह भी सच है कि किसी भी देश में कोई एक संस्कृति नहीं होती है बल्कि जितने प्रकार के समाज होते है, उतनी प्रकार की संस्कृतियाँ लक्षित की जा सकती हैं। भारतीय संस्कृति विश्व की अन्य संस्कृतियों से बिल्कुल ही अलग है। भारतीय संस्कृति की अपनी विशिष्टताएँ हैं। यह संस्कृति आध्यात्मिकता और आस्तिकता के गुणों से युक्त है । भारतीय संस्कृति में समग्र दृष्टिकोण पर बल दिया गया है। दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति में खंड खंड के स्थान पर अखंडता पर आग्रह देखा जा सकता है। भारतीय संस्कृति की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यहाँ अपने को जानो पर जोर दिया गया है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में 'आत्मवादी दृष्टिकोण' देखा जा सकता है। बौद्ध धर्म की शब्दावली में कहें तो यह संस्कृति 'अप्प दीपो भव' में विश्वास रखती है। यही वह संस्कृति है जहाँ कहा गया है 'विद्वान सर्वत्र पूज्यते', 'अहिंसा परमोधर्मः', 'सत्यमेव जयते', 'अतिथि देवो भव',

eISSN 2581-8996
ONLINE
INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED JOURNAL
Volume 09, Issue 01, January 2026

'असतो माँ सद गमय'। हिंदी साहित्य में संस्कृति के स्वरूप और विकास पर काफी विचार किया गया है। विभिन्न विद्वानों ने संस्कृति के अलग–अलग पक्षों पर विचार प्रस्तुत किए हैं। इन विद्वानों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, रामधारी सिंह दिनकर, विद्यानिवास मिश्र, निर्मल वर्मा और कुबेरनाथ राय प्रमुख हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृति पर विभिन्न कोणों से विचार किया है। उनका संस्कृति संबंधी दृष्टिकोण उनके निबंधों और उनकी आलोचनात्मक कृतियों में देखा जा सकता है। 'अशोक के फूल' और 'कल्पलता' निबंध संग्रहों के प्रायः सभी निबंध संस्कृति के विविध पक्षों पर विचार करते हैं। इसके अलावा उनकी पुस्तकों 'मध्यकालीन धर्म साधना' और 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' में भी संस्कृति विषयक चिंतन प्रस्तुत किया गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी संस्कृति और सभ्यता के विभेद को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं ''सभ्यता का आतंरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृ ति व्यक्ति के अन्तर के विकास का । सभ्यता की दृष्टि वर्तमान की सुविधा सुविधाओं पर रहती है, संस्कृति की भविष्य या अतीत के आदर्श परय सभ्यता नजदीक की ओर दृष्टि रखती है, संस्कृति दूर की ओरय सभ्यता का ध्यान व्यवस्था पर रहता है, संस्कृति का व्यवस्था के अतीत परय सभ्यता के निकट कानून मनुष्य से बड़ी चीज है, लेकिन संस्कृति की दृष्टि में मनुष्य कानून के परे हैय सभ्यता बाह्य होने के कारण चंचल है, संस्कृति आन्तरिक होने के कारण स्थायी।''1अतः यह स्पष्ट है कि संस्कृति और सभ्यता में बहुत अंतर है। इसके साथ ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी यह भी मानते हैं कि संस्कृति किसी जाति विशेष अथवा किसी एक देश विशेष से ही संबद्ध नहीं होती वरन् वृहद रूप में 'मानवीय संस्कृति' सभी देशों के लिए होती है। उनकी पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं ''मैं संस्कृति को किसी देश–विदेश या जाति–विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव–संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी है। नाना ऐतिहासिक परम्पराओं के भीतर से गुजरकर और भौगोलिक परिस्थितियों में रहकर संसार के भिन्न–भिन्न समुदायों ने उस महान मानवी संस्कृति के भिन्न–भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है। नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है, जिसे हम 'संस्कृ ति' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं।''2इस प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी मानवतावादी संस्कृति को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने संस्कृति संबंधी विवेचन में परंपरा और आधुनिकता के अंतःसंबंधों पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया है। परंपरा के संदर्भ में वे लिखते हैं ''परंपरा भी एक गतिशील प्रक्रिया की देन है। हमने अपनी पिछली पीढ़ी से जो कुछ प्राप्त किया है, वह समूचे अतीत की पुंजीभूत विचारराशि नहीं है। सदा नए परिवेश में कुछ पुरानी बातें छोड़ दी जाती हैं और नयी बातें जोड़ दी जाती हैं। एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को हू–ब–हू वही नहीं देती जो अपनी पूर्ववर्त्ती पीढ़ी से प्राप्त करती है। कुछ–न–कुछ छंटता रहता है, बदलता रहता है, जुड़ता रहता है। यह एक निरंतर चलती रहनेवाली प्रक्रिया है। 'परंपरा' का शब्दार्थ है, एक का दूसरे को, दूसरे का तीसरे को दिया जानेवाला क्रम। वह अतीत का समानार्थक नहीं है।''3इसी प्रकार आधुनिकता को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं ''आधुनिकता अपने आप में कोई मूल्य नहीं है। मनुष्यों ने अनुभवों द्वारा जिन महनीय मूल्यों को उपलब्ध किया है, उन्हें नए सन्दर्भों में देखने की दृष्टि आधुनिकता है। यह एक गतिशील प्रक्रिया सुलभ किये हैं। बहुत–सी पुरानी बातें भुलाई जा रही हैं, नई सामग्रियाँ और नए कौशल नवीन सन्दर्भों की रचना कर रहे हैं । उनमें बहु–समादृत मानवीय मूल्यों

eISSN 2581-8996
ONLINE
INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED JOURNAL
Volume 09, Issue 01, January 2026

का रूप कुछ बदला नजर आता है, परंतु फिर भी उनका शाश्वत रूप बना रहता है।''4भारतीय संस्कृति के संदर्भ में वे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर को याद करते हैं ''परंतु जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है यह भारतवर्ष महामानव–समुद्र है। केवल आर्य, द्रविड़, कोल और मुण्डा तथा किरात जातियाँ ही इसमें नहीं आयी हैं। कितनी ही ऐसी जातियाँ यहाँ आयी हैं जिन्हें निश्चित रूप से किसी खास श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। फिर उत्तर–पश्चिम से नाना जातियाँ राजनीतिक और आर्थिक कारणों से आती रही हैं। उन सबके सम्मिलित प्रयत्न से वह महिमाशालिनी संस्कृति उत्पन्न हुई है जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं।''5इस प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी संस्कृति चिंतक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं।

हिंदी साहित्य में अज्ञेय ने संस्कृति के संदर्भ में पर्याप्त चिंतन किया है। संस्कृति के संदर्भ में वे लिखते हैं ''एक परिभाषा वह है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक मानव के समग्र कर्म और उसके तन–मन पर असर डालने वाले सब प्रभावों को संस्कृति के अधीन ले आती है। अर्थात जैविक या आनुवांशिक दाय के अतिरिक्त जो कुछ मानवप्राणी ग्रहण करता है वह सब का सब उसका संस्कार है और इसलिए उसे संस्कृति कहा जाना चाहिएय वह शिक्षा और परिवेश से मिलता है, जो स्वयं मानव समाज के कर्म के अधीन हैं, इसलिए उस सबको संस्कृति ही मानना चाहिए। एक दूसरी परिभाषा इतनी व्याप्ति से बचती हुई मानव के समग्र उद्यम को नहीं बल्कि केवल उसे निरूपित, निर्धारित और प्रेरित करने वाले मूल्यों के समूह को और समाज की मूल्यदृष्टि को संस्कृति की अभिधा देना चाहती है।''6अन्यत्र भी संस्कृति को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं ''संस्कृति मूलतः एक मूल्यदृष्टि और उससे निर्दिष्ट होने वाले निर्माता प्रभावों का नाम है– उन सभी निर्माता प्रभावों का जो समाज को, व्यक्ति को, परिवार को, सब के आपसी संबंधों को, श्रम और संपत्ति के विभाजन और उपयोग को, प्राणिमात्र से ही नहीं वस्तु मात्र से हमारे संबंधों को निरूपित और निर्धारित करते हैं । संस्कृतियाँ लगातार बदलती हैं क्योंकि मूल्य दृष्टि भी लगातार बदलती है, क्योंकि भौतिक परिस्थितियां भी लगातार बदलती हैं।''7इस प्रकार अज्ञेय ने संस्कृति की अनेक परिभाषाएँ दी है।

अज्ञेय ने अपने संस्कृति संबंधी विवेचन में परंपरा को केंद्र में रखते हुए भी विचार किया है। परंपरा के संदर्भ में वे लिखते हैं ''ऐतिहासिक परंपरा कोई पोटली बांधकर रखा हुआ पाथेय नहीं है जिसे उठाकर हम चल निकलें । वह रस है जिसे हम बूंद–बूंद अपने में संचय करते हैं या नहीं करते, कोरे रह जाते हैं।''8इस प्रकार अज्ञेय यह मानते हैं कि परंपरा को प्रयत्नपूर्वक अर्जित करना होता है। आगे भी वे परंपरा को सुस्पष्ट करते हुए लिखते हैं ''परंपरा हमारे कर्म का लक्ष्य नहीं, उसकी अनिवार्य भूमि है। सर्जनात्मक प्रतिभा जो अंकुर उपजाती है, उसका बीज वह परंपरा रूपी परती भूमि में ही डालती है। लेखक परंपरा तोड़ता है जैसे किसान भूमि तोड़ता है। मैंने अचेत या मुग्ध भाव से नहीं लिखा जब परंपरा तोड़ी है तब यह जाना है कि परंपरा तोड़ने के मेरे निर्णय का प्रभाव आने वाली पीढ़ियों पर भी पड़ेगा। सर्जना का हर गीत परती तोड़ने का गीत होता है, पर उसमे स्तवन स्थूल मिट्टी का नहीं होता, उसकी उर्वरा शक्ति का होता है, उसमें फूटने वाले अंकुर का होता है। क्योंकि प्राण वही है ।''9अज्ञेय के संस्कृति संबंधी विवेचन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है काल संबंधी उनका दृष्टिकोण। काल के संदर्भ में वे लिखते हैं "काल को हम उसके अपने आयाम में केवल विषयीगत नाप से नाप सकते हैं अनुभव की अर्थात स्मृति की नाप से। स्मृति के सहारे ही हम दिक् को काल और काल को दिक् में परिणत करते हैं, स्मृति के सहारे ही हम दिक्काल को एक वास्तविक सातत्य (या सतत सत्ता) देते हैं। यो स्मृति के बिना काल नहीं है, सातत्य नहीं है, कालक्रम नहीं है, सन्तानता नहीं है, प्रवाह नहीं है केवल क्षण का समुत्पाद है।''10 भारतीय संस्कृति में श्रुति और स्मृति की परंपरा रही है। हमारी संस्कृति वाचिकता पर बहुत जोर देती है। स्मृति के संदर्भ में

eISSN 2581-8996
ONLINE
INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED JOURNAL
Volume 09, Issue 01, January 2026

अज्ञेय लिखते हैं ''हमारी स्मृति के परिदृश्य उस बिंदु से बनते हैं जिस पर हम खड़े होते हैं। किसी भी देश का साहित्य उस देश के द्रष्टाओं द्वारा स्वीकृत और प्रतिष्ठापित परिदृश्यों को प्रस्तुत करता है उनकी स्मृतियों का सर्जनात्मक संप्रेषण करता है। मैं तो स्वयं लेखक हूँ, लेखक होने ने नाते दूसरे लेखकों से यह माँग नहीं करता कि वे सामने आकर घोषित करें कि वे कहाँ खड़े हैं, जैसे कि मैं किसी दूसरे का यह अधिकार नहीं मानता कि वह मुझसे ऐसी माँग करे। लेकिन हम जो कुछ लिखते हैं, वह जिस तक पहुँचाना चाहते हैं, उस पर इस बात का प्रभाव अनिवार्यतया पड़ेगा कि हम कहाँ खड़े होकर, किस प्रकाश में रचना कर रहे हैं, वहाँ से स्मृति का कैसा परिदृश्य बनता है।''11 इस प्रकार अज्ञेय ने संस्कृति पर समग्रता में विचार किया है।

हिंदी के प्रतिष्ठित कथाकार और चिंतक निर्मल वर्मा ने अपने निबंधों में संस्कृति के स्वरूप और उसके वैशिष्ट्य पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है । अपने निबंध संग्रहों 'शब्द और स्मृति', 'कला का जोखिम', 'ढलान से उतरते हुए', 'शताब्दी के ढलते वर्षों में', 'दूसरे शब्दों में' तथा 'भारत और यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र की खोज' आदि में उन्होंने संस्कृति के विविध पक्षों पर विचार किया है। संस्कृति को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं "संस्कृति मनुष्य की आत्मचेतना का प्रदर्शन नहीं, उस सामूहिक मनीषा की उत्पत्ति है,जो व्यक्ति को एक स्तर पर दूसरे व्यक्ति से और दूसरे स्तर पर विश्व से जोड़ती है।''12 निर्मल वर्मा के संस्कृति चिंतन का महत्त्व इस दृष्टि से बढ़ जाता है कि उनके यहाँ भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि का विभेद लक्षित किया जा सकता है। 'शब्द और स्मृति' (1975ई.) के प्राक्कथन में निर्मल वर्मा लिखते हैं ''मैं बरसों से अपने देश के बाहर रहा हूँ। इससे मेरे भीतर एक अलगाव–सा उत्पन्न हुआ है, जो मुझे कभी–कभी बोझ–सा जान पड़ता है द्य किंतु दूसरी तरफ इसी 'अलगाव' ने मुझे अपनी जातीय अस्मिता और संस्कृति को ऐसे कोण से देखने का अवसर दिया है, जहाँ भ्रम और भुलावे के लिए गुंजाइश बहुत कम है।''13 इस प्रकार वे दोनों के अंतर को स्पष्ट करते है। यूरोपीय संस्कृति के संदर्भ में वे लिखते हैं "यूरोपीय संस्कृति का आविर्भाव ही व्यक्ति की विकसित आत्मचेतना द्वारा संभव हो पाया। इस आधार पर अकेले व्यक्ति ने यथार्थ का एक निजी, स्वायत्त दर्शन सृजित किया है एक ऐसा दर्शन जिसकी जड़े, उसके व्यक्तिगत अनुभव में निहित हैं। दूसरे शब्दों में, पश्चिमी संस्कृति का प्रादुर्भाव एक ऐसी खंडित चेतना में हुआ है, जहाँ मनुष्य अपने को प्रकृति, विश्व और दूसरे मनुष्य से अलग पाता है और उसे अनुभव होता है कि इस अलगाव और विभाजन को महज धार्मिक आस्था या परंपरा द्वारा नहीं पाटा जा सकता।''14 संस्कृति को सुस्पष्ट करते हुए कहते हैं ''केवल वे ही तत्त्व महत्वपूर्ण नहीं हैं, जिनका आविर्भाव मनुष्यों के आपसे संबंधों से होता है – कला, भाषा, अंतर्दृष्टि और सामूहिक विश्वासों और रहन– सहन की प्रथाओं और सामूहिक विश्वासों की संहिताए, बल्कि इनके साथ अनिवार्य रूप से एक अन्य तत्त्व भी जुड़ा है, जिसके बिना कहीं भी संस्कृति का विकास असंभव होताय और वह तत्त्व है भूगोल, यानी वह परिवेश, स्थल और वायुमंडल, जिसके भीतर रहकर एक मानव समूह न केवल अपनी जैविक सत्ता प्राप्त करता है, बल्कि जिसके कारण ही उस जैविक सत्ता को इतना अवकाश, इतना समय इतना सातत्य उपलब्ध हो पाता है कि वह अपनी कोई अस्मिता और पहचान गढ़ सके।'15 अतः संस्कृति में परिवेश का अपना महत्त्व है।

संस्कृति का इतिहास के साथ गहरा संबंध है । यह भी कहा जा सकता है कि भारतीयों के पास एक सुनिश्चित इतिहास दृष्टि थी। इस संदर्भ में निर्मल वर्मा लिखते हैं ''एक भारतीय का अपनी संस्कृति के साथ सहज संबंध उस क्षण विघटित होने लगा जिस क्षण पश्चिम ने अंग्रेजी राज्य के रूप में हमारी जीवन पद्धति में हस्तक्षेप करना आरंभ किया। भारतीय इतिहास में यह एक अभूतपूर्व घटना थी जब जीवन

eISSN 2581-8996
ONLINE
INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED JOURNAL
Volume 09, Issue 01, January 2026

के सहज प्रभाव को इतिहास के चौखटों में परिभाषित किया जाने लगा। भारत में अंग्रेजी राज्य का सबसे दुखदायी प्रभाव यह नहीं था कि हम आर्थिक और राजनीतिक रूप से गुलाम हुए, बल्कि यह कि इतिहास ने हमारी चेतना को पहली बार अतीत, वर्तमान और भविष्य जैसे कटघरों में परिभाषित किया। पश्चिम ने जब मेरे लिए एक अतीत की खोज की उसी क्षण मैंने उसे अपने वर्तमान में उन्मूलित किया, क्योंकि मेरी सहज चेतना में पश्चिम के हस्तक्षेप से पहले इस तरह का कोई विभाजन मौजूद नहीं था। एक बार अपने अतीत से विलगित हो जाने पर मैं धीरे–धीरे अपनी उस समूची थाती से अलग हो गया, जिसके बीच मैं जीता था, मरता था, साँस लेता था और अपने जीवन का अर्थ ढूंढता था।''16 आगे भी वे कहते हैं ''भारतीय संस्कृति का अद्वितीय लक्षण यह नहीं है कि कैसे वह शताब्दियों से होने वाली निरंतर और हिंस्र विदेशी घुसपैठ में जीवित रह आई बल्कि यह है कि वह उनकी प्रभुसत्ता के बावजूद किस तरह अपने को अक्षत रख सकी।''17 निर्मल वर्मा उपनिवेशवाद से उत्पन्न संकटों की चर्चा करते हुए लिखते हैं ''भारत में यूरोप का उपनिवेशवाद सिर्फ भौगोलिक सीमाओं तक सीमित नहीं था, बल्कि उसके जड़े कहीं गहरे जाती थीं । इसने भारत के काल–बोध को भी अपना निजी उपनिवेश बनाने की चेष्टा की। उन्होंने भारत के वर्तमान को अतीत के विखंडन के रूप में देखा और वह अतीत, भले गौरवपूर्ण रहा हो, अब मृत और बीत चुकी चीज मान लिया गया और यहाँ से ही भारत के विषय में बनी उस घिसी–पिटी रूमानी धारणा का जन्म हुआ, जिसके अनुसार भारत वह देश था जो 'सुदूर अतीत से आकर अपने विकृत वर्तमान से होते हुए यूरोपीय वर्तमान को संबोधित कर रहा था।''18 इस प्रकार यूरोपीय संस्कृति के संपर्क में आने से निश्चय ही भारतीय संस्कृति कुछ सीमा तक प्रभावित हुई।

हिंदी आलोचना एवं चिंतन के क्षेत्र में संस्कृति एक ऐसा विषय रहा है जिसपर विभिन्न दृष्टिकोणों से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। हिंदी के वरेण्य रचनाकारों एवं चिंतकों ने संस्कृति के स्वरूप और विकास को निरंतर उद्घाटित किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जहाँ मानवतावादी संस्कृति पर जोर देते है वहीं दूसरी ओर अज्ञेय मूल्यदृष्टि को प्रमुखता प्रदान करते हैं। निर्मल वर्मा के संस्कृति चिंतन का महत्त्व इस दृष्टि से बढ़ जाता है कि उन्होंने मनुष्य, प्रकृति और ईश्वर के ट्रिक को भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपदान माना है। वे यह भी मानते है कि भारतीय संस्कृति में प्रकृति के साथ गहन संलग्नता बोध लक्षित किया जा सकता है। दिनकर सर्वसमावेशी संस्कृति की बात करते है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य में संस्कृति चिंतन की समृद्ध परंपरा रही है।

संदर्भ सूची–

1 मुकुंद द्विवेदी (सं.), हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण 2022 ई., पृष्ठ195
2 मुकुंद द्विवेदी (सं.), हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण 2022 ई., पृष्ठ199 200
3 मुकुंद द्विवेदी (सं.), हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण 2022 ई., पृष्ठ 358
4 मुकुंद द्विवेदी (सं.), हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण 2022 ई., पृष्ठ 362

eISSN 2581-8996
ONLINE
INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED JOURNAL
Volume 09, Issue 01, January 2026

5 मुकुंद द्विवेदी (सं.), हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खण्ड 9राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण 2022 ई., पृष्ठ292
6 अज्ञेय, केंद्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2005 ई., पृष्ठ 275. 276
7 अज्ञेय, केंद्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2005 ई., पृष्ठ 273
8 नंदकिशोर आचार्य (चयन एवं संपादन), अज्ञेय के उद्धरण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2019 ई, पृष्ठ 15
9 कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), सच्चिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' के अभिभाषण, भाग एक, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, संस्करण 2012 ई., पृष्ठ 129
10 अज्ञेय, शाश्वती,राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, संस्करण 1993 ई., पृष्ठ 71
11 कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), सच्चिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' के अभिभाषण, भाग एक, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, संस्करण 2012 ई., पृष्ठ 325.326
12 निर्मल वर्मा, शब्द और स्मृति, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, चौथा संस्करण 2006 ई., पृष्ठ 85
13 निर्मल वर्मा, शब्द और स्मृति, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, चौथा संस्करण 2006 ई., पृष्ठ –10
14 निर्मल वर्मा, शब्द और स्मृति, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, चौथा संस्करण 2006 ई., पृष्ठ 85
15 निर्मल वर्मा, भारत और यूरोपरू प्रतिश्रुति के क्षेत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991 ई.,पृष्ठ 66 67
16 निर्मल वर्मा, ढलान से उतरते हुए, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 1988 ई., पृष्ठ 68 69
17 निर्मल वर्मा, भारत और यूरोपरू प्रतिश्रुति के क्षेत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991 ई.,पृष्ठ 30 31
18 निर्मल वर्मा, भारत और यूरोपरू प्रतिश्रुति के क्षेत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991 ई.,पृष्ठ 35